

जैन धर्म में ध्यान

लेखक- मनोहरलाल मणिलालजी पुराणिक
अधिवक्ता कुक्षी जिला धार म.प्र.

जैन मतावलम्बियों के लिये बताये गये तप में अभ्यन्तर प्रकार के तपों में पांचवां तप ध्यान है।

योग के, यम नियम आसन प्रणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान व समाधि इन आठ अंगों में सातवां अंग ध्यान है ध्यान के चार भेद १. पदस्थ २. पिण्डस्थ ३. रूपस्थ व ४. रूपातीत हैं।

धर्म ध्यान इन दो शब्दों का अेक साथ उपयोग/प्रयोग कर के शास्त्रों में इनकी अेकरूपता व अविच्छिन्नता बताई गई है

यद्यपि ध्यान, धर्म से व्यक्ति को जोडने की क्रिया है तथापि इसके अभाव में धर्म सूना सूना सा हो जाता है। धर्म के बारे में सोचने का अवसर ध्यान देता है, ध्यान व्यक्ति को अन्तर झांकने में स्वयं के समझने व पहचानने में सहायक होता है।

जैन धर्म में मान्यता है कि आत्मा ही परमात्मा है। जो लोग संसार सागर से पार उतर गये उनकी आत्मा व साधारण व्यक्ति की आत्मा को मूलतः, कोई भेद नहीं है। भेद वास्तव में आत्मा पर चढी चार कषाय व आठ मद की परतों का है। जिस आत्मा पर से ये परते हटी वही आत्मा परम आत्मा हो गई। इन परतों को देखने के लिये आंख मुन्द कर ध्यान लगाना होता है। ध्यान लगाने में यह ध्यान रखना होता है कि आंख मुन्दी तो जाये पर वह दृष्टीहीन न हो जाये। वह बाहर के बजाय अन्दर की ओर देखने लगे यह आवश्यक है।

मानव शरीर अपने आप में बहुत बडा यन्त्रालय है। यन्त्रों के सन्चलन में जिस प्रकार गडबडियां आया करती है उसी प्रकार मानव शरीर में भी विकार व रोग होते रहते हैं।

तीर्थकरों के शरीर ऋषभनाराचसंघण व अतिशययुक्त होने के कारण से उनमें विकार व रोग नहीं होते हैं। इस कारण उनके द्वारा किये जाने वाले ध्यान में श्वास उपर लेने व नीचे छोडने, खांसी, छीक, जम्हाई, डकार, वायु, निसरण अकस्मात, देह भ्रमण, मूर्च्छा व चक्कर आने आदि कारणों से अंग संचलन नहीं होता है। थुंक व श्लेष्म भी शरीर संचलन नहीं कर पाते हैं नहीं दृष्टि संचलन का विकार/बाधा होती है किन्तु सामान्य व्यक्ति के शरीर में न तो अतिशत होता है नही वह चरम शरीरी होता है इस कारण से सामान्य व्यक्तियों के ध्यान में शरीर में होने वाली व्याधियों प्रकृतिक परिवर्तनों, रोगों, विकारों आदि से बाधा होती है हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने अलौकिक अनुभवों से उक्त शारीरीक विकारों से होने वाली बाधाओं को जाना।

ध्यान करने में सर्वप्रथम अपने मन का, काया से सम्बंध तोडना/छोडना होता है मन का सम्बंध अवृथ्य शक्ति से जुडने का अनुभव करना होता है। इस स्थिति को कायोत्सर्ग कहा जाता है। कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के छः आवश्यक में से अेक है जो अभ्यन्तर तप की श्रेणी में भी आता है। कायोत्सर्ग के बिना ध्यान की कल्पना नहीं की जा सकती है। यह ध्यान की प्रथम सीढी है। ध्याता की ध्येय में तल्लीनता भी कभी कभी काया का उत्सर्ग कर देती है। काया को पता ही नहीं चलता है कि बाहर क्या हो रहा है।

मानव शरीर की कमजोरियों का सुक्ष्म विप्लेशन करके हमारे पूर्वाचार्यों ने ध्यानत्मय कायोत्सर्ग में उंचा श्वास लेने, नीचे श्वास छोडने, खांसी आने, छीक होने, जम्हाई आने, डकार आने, वायु निसरण, अकस्मात देह भ्रमण/चक्कर आने, पित्त प्रकोप के कारण से थुंक श्लेष्म के कारण

से शरीर का सूक्ष्म संचलन व दृष्टी के सूक्ष्म संचलन के अपवादों को छोड़ने का निर्देश दिया है। इन सारे अपवादों का अन्तःसुत्र में विवरण देते हुए कायोत्सर्ग का प्रत्याख्यान/पचकखाण किया जाता है।

उक्त शारीरिक विकारों के अतिरिक्त ध्यान में भय के कारण से स्थान छोड़ने की अनुमति भी दी गई है। इन भयों में प्रमुख, अग्नि व विद्युत प्रकोप, बिजली चुहों का भय, पञ्चेन्द्रिय जीव के छेदन का भय, चोर व राजा का भय, सिंह सर्प का भय तथा दीवार गिरने का भय प्रमुख है इनमें से किसी भी भय के उपस्थित होने पर स्थान छोड़ने से ध्यान भंग हुआ ही माना जाता है। इन विकारों व भय के अतिरिक्त ध्यान में शरीर संचलन के लिये दायित्वाधीन कोई तत्त्व शेष नहीं रह जाता है।

जिस तरह धर्म ध्यान अकाकार है उसी प्रकार का सम्बंध ध्यान व मौन का भी है। मौन होने पर ही व्यक्ति अपने विचारों के प्रवाह को रोकने का प्रयास कर सकता है। विचार प्रवाह रुकना ध्यान की सार्थकता है। विचार प्रवाह, मन को अकाग्र नहीं होने देता है विचार प्रवाह ध्यान का प्रबल शत्रु माना गया है विचार प्रवाह से मन में होने वाली चंचलता के कारण ही मन को बन्दर की उपमा दी जाती रही है।

ध्यान किसका किया जाये यह एक प्रमुख प्रश्न उठता है। यह प्रश्न भी तभी तक सारभूत रहता है जब तक कि मन अकाग्र न हो जाये। जैन धर्म में सर्वाधिक जोर नमस्कार महामन्त्र के ध्यान करने पर दिया गया/जाता है फिर भी तीर्थकरों, गणधरों, प्रभावक आचार्यों, देवी देवताओं व विशेष सुत्रों का ध्यान किया जाना असंगत नहीं माना गया है। धर्म ध्यान व शुक्लध्यान ध्याना जैन मतावलम्बियों के लिये आवश्यक माना गया है। शुक्ल ध्यान में आत्मा स्व चिन्तन में लग जाती है। वह कहां से आई कहां जाना, क्या लक्ष्य है, अभी तक क्या कर लिया है, लक्ष्य पर पहुंचने का मार्ग मिला या नहीं, इन बातों का ध्यान करने लगती है। क्यों कि आत्मा का लक्ष्य अब बन्धनों को तोड़कर सिद्ध स्थान में अपनी जगह बनाना है। शुक्ल ध्यान कषाय बन्धनों से आत्मा को मुक्त कर क्षपक श्रेणी पर पहुंचाता है। मरुदेवी व भरत चक्रवर्ती ने ऐसा ही ध्यान करके योग्य भावना भाकर केवलज्ञान व सिद्धस्थान प्राप्त किया था।

ध्यान की एक आवश्यकता स्थान की निरापदता भी है। चाहे जहां ध्यान करना सुसंगत नहीं माना गया है। मनशुद्धि शरीरशुद्धि के साथ ही शुद्ध निरापद व भय रहित स्थान ध्यान के लिये उपयुक्त है। कोलाहल से ध्यान भंग होता है। आस पास के वातावरण का भी ध्यान पर प्रभाव पड़ता है शुद्ध सात्विक व धार्मिक वातावरण से परिपूर्ण स्थान ध्यान में सहायक होते हैं।

सगुण व निर्गुण दोनों प्रकार के ध्यान के लिये सिद्धासन व पद्मासन की स्थिति योगशास्त्र में सर्वश्रेष्ठ कही गई है।

सारी अन्य सहायक परिस्थितियों के उपरान्त भी मन की चंचलता पर नियन्त्रण के बिना ध्यान असम्भव है। कोशा गणिका की चित्रशाला में मन पर नियन्त्रण करके स्थुलिभद्रजी ने ध्यान किया जबकि मन पर नियन्त्रण न रह पाने के कारण निर्जन गुफा में रथनेमि मुनि का मन विचलित होने के उदाहरण हमें मिलते हैं।

प्रयत्न से/यत्नपूर्वक ध्यान किया जाये तो निश्चित रूप से मन को अकाग्र करके आत्मा का बाहर से सम्बंध तोड़ कर अपने लक्ष्य की ओर ध्यान आत्मा को निर्बाध रूप से प्रवाहमान कर देता है।

काश आर्तध्यान व रौद्रध्यान से दूर रह कर शुक्ल ध्यान व धर्म ध्यान हम कर पायें।
इत्यलम

